पुरूषार्थ का तात्त्विक एवं सांस्कृतिक विवेचन

डॉ0 सुचेता शुक्ला
एसाशियेट प्रोफेसर – दर्शनशास्त्र विभाग
दयानन्द गर्ल्स कालेज, कानपुर

पशु जीवन के समान मानव जीवन एक सहज और नियत प्रवृति– चक्र से निबद्ध नहीं है। आत्मबोध, विवेक एंव स्वतंत्रता के न्यूनाधिक अवभसा नियत प्राकृतिक प्रवृत्ति– चक्र को मानवीय पर्येषणा के अनन्त ऋजु– पथ में रुपान्तरित करने के लिए उद्दिष्ट रहते हैं। यथा प्राप्त विषयों के अंतराल से आदर्श विषयों की खोज, यही मनुष्य का मनुष्योचित जीवन है और यही मूलयान्वेषण अथवा पर्येषणा है। मूल्य मनुष्य के विकासशील जीवन का लक्ष्य और उसकी उपलब्धि है, तो वहीं दिए हुए स्वभाव को भोगना ही प्रवृत्ति जीवन की नियति है। मूल्यार्थी पुरुष स्वगत् और विषयगत् अभाव से असंतुष्ट होकर भूमा का अनुसंधान करता है। यही मूल्य का स्वरुप है, उसी में मनुष्य की चरितार्थता, उसके जीवन की सुखिता है। (''भूमा वै सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति'') विवेक के अनुसार अर्थ– गवेषणा ही पर्येषणा है जो कि अपने उद्दात स्वरुप में आर्य– पर्येषणा कही गई है। यदि विवेक– गर्भ पर्येषणा को मानव विकास एवं संस्कृति का मूल माना जाए तो पर्येषणीयता को मूल्य का लक्षण कहा जा सकता है। पर्येषणीय का अर्थ है पर्येषणार्ह और अर्हता योग्यता अथवा, औचित्य या प्रशस्यता को कहते है। औचित्य विवेकानुकूलता है और प्रशस्यता विवेकियों के द्वारा अनुमोदन की योग्यता। अतः जिस विषय को खोज का विषय होने पर विवेक का समर्थन प्राप्त होता है, वही मूल्य है मूल्य के प्रत्यय में तीन घटकों का समावेश देखा जा सकता हैः एषणा, विवेक एवं स्वतंत्रता। यह स्वीकारणीय है कि एषणा एवं विवेक स्पष्टरुपेण सविषयक हैं और स्वतंत्रता कर्तृत्वधर्म होने का कारण कृति द्वारा विषय का आपेक्ष करती है। किन्तु इच्छा, ज्ञान एवंक्रिया तीनों ही चेतना के आयाम हैं और वे न केवल विषय का आक्षेप करते हैं अपितु विषयी का और दोनों के मध्य संबंध का भी उतना ही आक्षेप करते हैं। ज्ञानावधृतरुपेण अर्थात स्वरुपेण जो विषय इष्ट हो और स्वतंत्र विषयी के लिए साध्य हो वहीं मूल्य संज्ञा का अधिकारी होगा। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि मूल्य– प्रत्यय एक ऐसे विषय– विषयि भाव का संकेत करता है जिसमें विषय अपने तात्विक रुप में इष्ट, विषयी स्वतंत्र और दोनों का संबंध साध्य साधक संबंधा होता है। मूल्यान्वेषण मानवीय चेतना का स्वभाव है क्योंकि आत्मानुरुप विषय को खोजती हुई चेतना की यात्रा अपने स्वरुप की ओर उद्दिष्ट है।

मूल्य को मानवोचित लक्ष्य अथवा पुरुषार्थ के रुप में परिभाषित किया जाता है और वह न वस्तुमात्र है, न इष्टता– मात्र। मूल्य की यथार्थता उसके स्वरुप की अनिवार्यता एवं उसकी बुद्धिगोचर युक्तियुक्ता है, तो वही उसकी इष्टता उसकी आदर्शरुपता है जो कि प्रत्येक अपूर्ण विषय के लिए उस पूर्णता में पाई

जाती है जिसका वह स्वरुपतः आक्षेप करता है और जो उसके तारतम्य निर्धारण एवं परिष्कार के लिए प्रतिमान प्रस्तुत करती है। प्रवृत्ति एवं विवेक के द्वन्द्व में कर्म एवं भोग के अंतराल से मनुष्य अपने आदर्शोन्मुख एवं आत्म–जागरुक साधक भाव द्वारा मूल्यों का सृजन करता हैं। मूल्य– बोध के इस द्वन्द्व के कारण मूल्य के स्वरुप के विषय में भी दो विरुद्ध पक्षों का प्रतिपादन मिलता है। मूल्य– बोध को ज्ञानात्मक मानने पर मूल्य तात्विक विषय सिद्ध होते हैं, तो वहीं इसे इच्छाभावात्मक मानने से मूल्य किसी प्रकार की अपेक्षापूर्ति अथवा अर्थपूर्ति एवं उसके साधनमात्र बन जाते हैं। मूल्यों के संदर्भ में ये विभिन्न दृष्टि– बुद्धिवाद, भोगवाद एवं मुक्तिवाद– मूल्य– बोध के विभिन्न रुपों और आयामों को प्राधान्य देने से उत्पन्न होती है। बुद्धिवादी दृष्टि मुल्य– बोध के विचेनात्मक पक्ष को महत्व देती है और मूल्यों को मानव जीवन के लिए पथ प्रदर्शक स्वीकार करती है। भोगवादी दृष्टि ज्ञान को साधन एवं इच्छापूर्ति को लक्ष्य मानकर भेग्य मदार्थों के युक्त अथवा उचित उत्पादन, संग्रह एवं वितरण को आवश्यक मानती है। मुक्तिवादी दृष्टि का उत्स आध्यात्मिक अकुलाहट अथवा अपूर्णता का बोध है जो मोक्ष, निर्वाण अथवा मुक्ति को परम पुरुषार्थ स्वीकार करती है। एषणा एवं विवेक विरोधी तत्त्व नहीं है क्योंकि एषणा (इच्छा) के अंतराल में एक प्रकार का अपरोक्ष और अव्यक्त विवेक रहता है– एषणा यत्किन्चिद्विषयक नहीं होती और एषणा में अवभासित अर्थ ही विवक के पूर्वाभ्युपगम होते हैं । अतः इससे यह ज्ञात होता है कि एषणामात्र मूल्य की जननी नहीं है अर्थात अभीष्ट होने से ही कोई विषय मूल्यवान नहीं हो जाता, अपतु उसे विवेक द्वारा अनूमोदित भी होता चाहिए। विवेक द्वारा शोधित एवं रुपान्तरित एषणा निःसन्देह मूल्यों को उद्घाटित अथवा प्रस्तुत करती है। विवेक– संसहित एषणा ही पर्येषणा है और इसका क्रमिक विकास ही मूल्य संपृक्त विश्व दृष्टि है। मूल्यबोध में आत्मांश एवं विषयांश दोनो का ही सामरस्य होता है। आत्मबोध विषयोपाधिक होता है एवं विषय आत्मबोध के अनेरुप। इष्टता के बोध में आभासित मूल्य के अन्सेषण को विवेक आत्मदर्शन की ओर ले जाता है। अन्ततोगत्वा मूल्य का स्वरुप आत्म संकेत के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसे औपनिषदिक् परंपरा में ''आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति'' के रुप में व्यक्त किया गया है।

मनुष्य की मूल्य चेतना का निर्माण सांस्कृतिक परिवेश में होता है जिसके विधिक आयाम हैं। यहां हम इसके तीन प्रमुख आयामों के संक्षिप्त रेखांकन का प्रयास करेंगे– 1. मानव प्रकृति संबंध 2. मानव तथा आध्यात्मिक दृष्टि 3. मानव तथा अन्तर्वैयक्तिक संबंध। सांस्कृतिक तत्त्व जिनमें मनुष्य अपनी प्रारम्भिक स्थिति में जीवन को व्यवहार के उपयोगी एवं आवश्यक अंग के रुप में विकसित करता है, उसमें सर्वप्रथम उसका साक्षात्कार प्रकृति या अचेतन जगत् से होता है। अचेतन जगत् पर विचार का तात्पर्य है – मनुष्य द्वारा अपनी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के संसाधनों का विकास तथा निःसर्ग से प्राप्त सामग्री के

उपभोग के प्रति दृष्टिकोण। मानव प्रकृति संबंध में स्पष्ट विभेद भारतीय एवं सामी संस्कृति में परिलक्षित होता है।सामी संस्कृति की यह मान्यता है कि संपूर्ण जगत् अथवा प्रकृति मनुष्य के उपभोग के लिए निर्मित है, जो उसे प्रकृति को विजित करने की प्रेरणा देती है तो वहीं भारतीय संस्कृति प्रकृति को स्वतः मूल्यवान एवं जगत् के त्यागपूर्ण उपभोग की प्रेरणा प्रदान करती है मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना अथवा दृष्टि जो कि शुद्ध चैतसिक वृत्ति है, मनुष्य की एषणीयता को नियमित करती है। प्रकृति प्रदत्त पदार्थों के प्रति विवेकजन्य ज्ञानात्मक चेतना का निर्माण इष्टनिष्ट की अनुभूति से संभव होता है। यह विवेक जगत् के अनुभव से उत्पन्न होने के कारण विशुद्ध अवधारणात्मक संरचना है जिसका संबंध मनुष्य की अतिक्रामी चेतना से होता है जो कि विधायक नहीं अपितु नियामक होती है। संस्कृति का मूल्यों के संदर्भ में द्विविध महत्व है– वे मूल्यों का सृजन ही नहीं करते है अपितु उसके संवाहक भी हैं। मानव की आध्यात्मिक दृष्टि संपूर्ण जगत् को स्व अथवा चेतना का विस्तार मानने के लिए प्रेरित करती है जो उसके अतःस्थल में दया, करूणा, प्रेम, मुदिता आदि भावों को जाग्रत करती है। अतः इस प्रकार से आध्यात्मिक तत्त्व जो विशुद्ध चैतसिक होते हैं वे हमारे क्रियाकलाप, व्यवहार, आदतों, और जीवन– जगत् के पारस्परिक संबंध के रूप में अभिवयक्त होते हैं। ''सर्वे भूतेषु आत्मवत्'' की अभेद दृष्टि प्रकृति अथवा सृष्टि में परिवर्तन एवं शोषण के स्थान पर आनुकूलन एवं सामंजस्य पर बल देते हुए मनो– दैहिक रुपान्तरण की अनुशंसा करती है। संस्कृति के निर्माण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान अन्तर्वैयक्तिक संबंधों का है। यह संबंध ही नैतिक मूल्यों की आधारभूति निर्मित करते हैं और इन्ही सम्बन्धों के मध्य मूल्यों की साधनात्मक एवं साध्यात्मक भूमिका भी होती है। अन्तर्वैयक्तिक संबंध की आदर्श परिकल्पना ''आत्मनःप्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत्'' के रुप में अभिव्यक्ति पाती है।

मानवीय साधना के दो मूल है– अपेक्षा– बोध एवं स्वातन्त्र– बोध। अपेक्षा– बोध आधिभौतिक स्तर पर उत्पन्न होता है और कर्म के द्वारा अपेक्षा की तात्कालिक पूर्ति अथवा भोग की ओर उद्दिष्ट होता है। दैहिक एवं ऐन्द्रिक जीवन प्राण– रक्षा एवं सुख– दुःख की प्राप्ति– परिहार को मानकर प्रवृत्त होता है। आधिभौतिक अपेक्षापूर्ति– रुप मूल्य एक विस्तृत अर्थ में व्यवस्थात्मक सामाजिक–बौद्धिक मूल्य से मिलकर मनुष्य के आधिभौतिक –सामाजिक जीवन के साध्य और नियामक बनते हैं। व्यवहारिक मूल्यों का प्राचीन त्रिवर्ग है– धर्म, अर्थ एवं काम जो निःसन्देह भौतिक सामाजिक जीवन के अपेक्षापूर्ति– रुप मूंल्य के तीन आयाम हैं। बुद्धि को संज्ञान, संकल्प एवं भावनाकी विधाओं में विभक्त किया जा सकता है। जिज्ञासा के अनुसरण से दृष्टि के रुप में मनुष्य का बौद्धिक आत्मबोध अनेक विद्याओं और शास्त्रों के विकास में सत्यात्मक मूल्य का सन्धान पाता है। संकल्प में निःस्वार्थ और सार्वभौम आत्मबोध की अभिव्यक्ति शिवात्मक

विशुद्ध कर्तव्यबोध एवं करुणा, प्रेम आदि शुद्ध मानवीय भावों के रूप में होती है। भावनामात्र में अंतर्निहित सौन्दर्य सृजनात्मक कल्पना अथवा प्रतिभा के संकेतों से व्यक्त होता है। आत्मिक मूल्यों की खोज में आत्मविषयभूत मूल्यों की खोज अंतभूर्त होती है क्योंकि जहां तक आत्मसत्ता एक एषणात्मक क्रियाशील चेतना है और जिसकी अर्थवत्ता उसके प्रयोजनीय विषयों के मूल्य से पृथक नहीं की जा सकती है। अतः इस प्रकार मूल्य आत्मपेक्षी हैं और व्यावहारिक आत्मा मूल्यापेक्षी है। आत्म– प्रत्यय के विषयभूत स्वरुप की आलोचना से ही मूल्य या आदर्श का बोध होता है। विषय और विषयी, सत्ता एवं चेतना, भूत एवं भव्य का एकीभाव आत्मा में ही होता है। यह गवेषणा आत्म–प्रत्यय में प्रतिबिम्बित नित्य, स्वतंत्र एवं आत्मपर्याप्त, अनन्त सत् की ओर उद्दिष्ट होती है और यही पर्येषणा या मूल्य साधना है। मूल्यबोध में विषयबोध एवं आत्मबोध का संबंध द्वन्द्वात्मक होता है। द्वन्द्वात्मकता के ही कारण कभी मूल्य आत्मोपकारी और कभी आत्मा मूल्योपकारी प्रतीत होते हैं। मूल्य–बोध प्रयोजनों के विषय में दृष्टि–प्राप्ति है और साधना को जन्म देता है। ज्ञान और इच्छा का द्वन्द्वात्मक समन्वय मूल्य– पर्येषणा के लिए आवश्यक है और द्वन्द्व परिहार तभी होता है जब विषयज्ञान आत्मज्ञान में परिणत होता है। (''तत्स्व्यं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।'')

प्रोफेसर राधा कमल मुखर्जी ने मूल्य को इस रूप में परिभाषित किया किवह समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इच्छाएं एवं लक्ष्य हैं जिनका अन्तरीकरण सीखने या सामाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है और जो व्यक्तिनिष्ठ अधिमान, मानक तथा आकांक्षा बन जाती है। प्रोफेसर मुखर्जी की यह मान्यता है कि मनुष्य को मूल्य स्वयं के जीवन, पर्यावरण, समाज एवं संस्कृति से ही नहीं अपितु मानव अस्तित्व एवं अनुभव से भी प्राप्त होते हैं। वे मूल्यों का द्विविध वर्गीकरण साध्य एवं साधन मूल्य के रूप में प्रस्तावित करते हैं। साध्य मूल्य वे लक्ष्य तथा संतुष्टियां हैं जो मनुष्य के आंतरिक जीवन से संबद्ध है और स्वयं में मूल्यवान अथवा स्वतः पूर्ण हैं यथा सत्यम् शिवं एवं सौन्दर्य के उद्दात मूल्य। साधन मूल्य इसके विपरीतवे मूल्य हैं जो उच्चतर लक्ष्य अथवा पर्येषणा के साधन मात्र हैं अर्थात् स्वयं में मूल्यवान अथवा स्वतःसिद्ध नहीं हैं। साध्य मूल्यों को अमूर्त एवं लोकातीत तो वहीं साधन मूल्यों को मूर्त एवं लौकिक से अभिहित किया जाता है। उनकी दृष्टि में साध्य मूल्यों का संबन्ध वैयक्तिक जीवन के उच्चतम आदर्शों एवं लक्ष्यों से होता है जबकि साधन मूल्यों का लौकिक साधनों की पूर्ति के रूप में प्रयोग किया जाता है। साधन मूल्यों के उचित उपयोग के बिना साध्य मूल्यों की परिपूर्णता संभव नहीं है। पुरूषार्थ के अंतर्गत अर्थ एवं काम साधन मूल्य हैं, तो वहीं धर्म के संदर्भ में दोनों प्रकार के विचार हमें प्राप्य हैं, धर्म को साधन एवं साध्य मूल्य के रूप में कल्पित करने की परंपरा है। मोक्ष निःसंदेह साध्य मूल्य हैं। संस्कृति मूल्यों के वास्तवीकरण का ही नाम है क्योंकि वह वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण

निर्धारित करती है। भारतीय संस्कृति में व्यक्ति के इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन को नियमित करने का तथा मानवीय जीवन की आवश्यकताओं, अभिरूचियों , उद्देश्यों और आकांक्षाओं के समन्वय का प्रयास किया गया है। अतः धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का समन्वित रूप भारतीय मूल्य व्यवस्था है और जिसकी साधना को पुरूषार्थ से अभिहित किया जाता है। पुरूषार्थ का शाब्दिक अर्थ पुरूष द्वारा अभिलाषित फल (पुरूषाणाम् अर्थः पुरूषार्थः या पुरूषैः अर्थ्यते इति पुरूषार्थः) अर्थात् मनुष्य मात्र जिस फल की इच्छा करे वह पुरूषार्थ है। यदि धर्म पुरूषार्थ सिद्धि का आधार है तो मोक्ष उसका अंतिम लक्ष्य है। मोक्ष को इसी कारण से परम पुरूषार्थ भी कहा जाता है और इन चतुर्दिक पुरूषार्थों का संपादन करना ही भारतीय संस्कृति का प्रधान लक्ष्य है। भारतीय संस्कृति की तीन विशेषताएं आध्यात्मिता, ओजस्विता और बौद्धिकता धर्म की संकल्पना के विभिन्न रूप से ही आविर्भूत हुई हैं। धर्म की संकल्पना में मानव– जीवन, उसकी आकांक्षाओं एवं अहर्ताओं को एकता मिलती है धर्म की व्याख्या अनेक दृष्टिकोणों से की गई है– एक ओर शाब्दिक उत्पत्ति के आधार पर तो वहीं दूसरी ओर धर्म शब्द के लक्षणात्मक अर्थों के आधार पर धर्म के स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। धर्म शब्द की व्युत्पति 'धृ' धातु से है जिसका अर्थ है 'धारण करना'। धर्म के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ की त्रिविध व्याख्या संभव है– 1. धर्म वह है जिससे लोक धारण किया जाए (ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः) 2.धर्म वह है जो लोक को धारण करे (धरति धारयति वा लोकम् इति धर्मः)3.धर्म वह है जो दूसरों के द्वारा धारण किया जाए (ध्रियते यः सः धर्मः)। अतः धर्म एक ऐसी आचार संहिता है जो सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति में व्यक्ति की स्थिति के अनुरूप उसे कर्तव्य– पालन करने का निर्देश देता है। लक्षणार्थ में भी धर्म को अनेक प्रकार से निरूपित करने का प्रयास किया गया है। धर्म का साधारण अर्थ तो यह है कि जो धारण करे वह धर्म है (धारयतीति धर्मः), किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि कौन धारण करे तथा किसको धारण करे। महाभारत में इसका स्पष्टीकरण किया गया है कि धर्म प्रजा को धारण करता है और जो धारण के साथ रहे वही धर्म है (धारणाद धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। यत् धारण संयुक्तं सः इति निश्चयः।।)। अतः जो व्यक्ति एवं समाज को धारण करे वही धर्म है, किन्तु धर्म का उद्देश्य मात्र धारण करना ही नहीं है अपितु धर्म सुख का मूल भी है (धर्मेण सुखमासीत)। महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र में यह स्थापित किया कि जिससे मनुष्य के इहलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि होती है वह धर्म है (यतो अभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः)। धर्म सामाजिक व्यवस्था का दूसरा नाम है जिसके अंतर्गत रहकर अर्थार्जन एवं नियमानुकूल सुख भोग की प्राप्ति की जा सकती है।

धर्म को प्रथम पुरूषार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि वह अन्य तीन पुरूषार्थो का साध नही नहीं अपितु उनका आधार भी है। अर्थ को हम द्वितीय पुरूषार्थ मानते हैं जिसका सामान्य अर्थ लौकिक

एवं पार्थिव संपन्नता है। पुरूषार्थ की यह मान्यता है कि जीवन का इहलौकिक विकास अर्थ एवं काम से संभव है। अर्थ से ही मनुष्य के इहलोक एवं परलोक के समस्त प्रयोजनों की सिद्धि होती है (यतः सर्वप्रयोजन सिद्धिः सः अर्थः)। अर्थ मनुष्य के भोग, आरोग्य तथा धर्मपालन का प्रमुख साधन है और इसी कारण से अर्थ सबकी प्रवृत्ति होती है। प्राणियों की सुख– समृद्धि का मूल धर्म है और धर्म का मूल अर्थ और इस कारण से महर्षि कौटिल्य ने त्रिवर्ग में अर्थ की प्रधानता पर आग्रह करते हुए उसे धर्म और काम का मूल माना है (वृत्तिमूलम् अर्थ मूलौ धर्म कामौ)। गृहस्थ आश्रम के समस्त कर्म एवं कर्तव्य, उत्तरदायित्व के र्निवहन तथा धार्मिक कर्मकाण्ड के संपादन में अर्थ अति आवश्यक है। भारतीय संस्कृति में आर्थिक उन्नति को जीवन को जीवन मूल्य के रूप में कल्पित किया गया है। अर्थार्जन एवं सुख– समृद्धि की प्राप्ति के लिए प्रयत्न एक यथोचित मानव– आकांक्षा है किन्तु यह प्रयत्न धर्मोन्मुख होना चाहिए और इसके लिए मानव– जीवन का धर्म द्वारा नियमन नितान्त आवश्यक है। काम को तृतीय पुरूषार्थ के रूप में भारतीय मूल्य व्यवस्था के अंतर्गत समाविष्ट किया गया है। अर्थ की भांति इसको भांति इसको भी इहलौकिक जीवन का एक आधारभूत साधन माना गया है। काम का तात्पर्य उन अभिलाषाओं से है जो मानव में भोग एवं जीवन तथा ऐन्द्रिक तुष्टि के लिए होती हैं। इसके अंतर्गत मानव की आधारभूत जैविक आवश्यकताएं आती हैं जिनकी अवहेलना संभव नहीं है क्योंकि इसकी पूर्ति के बिना मानव– अस्तित्व ही असंभव है। काम की वांछनीयता का निकष धर्म है अर्थात् काम को सदैव धर्मानुकूल होना चाहिए कदापि धर्मविरूद्ध नहीं। अर्थ एवं काम की सिद्धि ग्रहस्थ आश्रम में होती है और विवाह को भारतीय संस्कृति में एक संस्कार के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। पुरूषार्थ संतुलनवाद में ही हमारी संस्कृति का वैशिष्ट्य है जो कि मनुष्य के संतुलित जीवन की श्रेष्ठता की स्थापना है। मो़क्ष को परम पुरूषार्थ अथवा निःश्रेयस से अभिहित किया जाता है अर्थात् जिसे प्राप्त करने के उपरान्त कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता है। मोक्ष का सामान्य अर्थ है वह पद अथवा स्थिति जिसको प्राप्त कर मनुष्य आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। मनुष्य का सबसे बड़ा दुःख उसका बंधन एवं ससीमता है और उसके दुःख को लौकिक साधनों से दूर नहीं किया जा सकता है। वह निःसीम सुख अथवा परमानन्द की अनुभूति तब करता है जबवह समस्त सीमाओं अथवा अपुर्णताओं से सर्वथा मुक्त होकर अपने अनन्त स्वरूप को प्राप्त करता है। अतः धर्म, अर्थ एवं काम क्रमशः मानव जीवन के नैतिक, भौतिक एवं मानसिक संसाधनों के प्रतीक हैं और जिनकी साधना का लक्ष्य परम स्वातंत्र्य (मोक्ष) की प्राप्ति है। आसक्ति में आसक्ति में अनासक्ति का समन्य ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है।

पुरूषार्थ का संबंध ऐसे जीवन दर्शन से है जिसमें यह स्वीकृत है कि मानव जीवन इहलौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही है। भारतीय संस्कृति में इसके माध्यम से भौतिकतावाद एवं आध्यात्मवाद में विलक्षण समन्वय स्थापित किया गया है। मनुष्य के सर्वांगीण एवं सुव्यवस्थित विकास के लिए आवश्यक है कि उसके शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक आदि समस्त आवश्यकताओं के सापेक्षिक महत्व को स्वीकार करते हुए उन्हे मानव– जीवन में उचित स्थान प्रदान किया जाए और इसके अतिरिक्त उनकी प्राप्ति का यथोचित अवसर एवं साधन भी उपलब्ध हो। पुरूषार्थ वस्तुतः एक आदर्श विधान है जिनके द्वारा मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति की मर्यादाए निर्धाति होती हैं। मानव– जीवन की आशाओं एवं उच्चतर आकांक्षाओं, भोग वृत्तियों एवं संयमित जीवन और उसमे निहित उद्दातिकरण तथा आध्यात्मीकरण की भावनाओं की संतुष्टि पुरूषार्थ से होती है। यह स्वीकार करने में लेशमात्र संकोच नहीं कि मनुष्य में पशुत्व एवं देवत्व का भाव पाया जाता है जिसे भगवद् गीता में क्रमशः आसुरी एवं दैवीय संपदा कहा गया है। पुरूषार्थ साधना मनुष्य की क्षमताओं को देवत्व मार्ग से विमुख नहीं होने देती क्योंकि पुरूषार्थ का प्रयोजन मानव– क्रियाओं को एक आदर्श जीवन– दर्शन में रूपान्तरित करना है। अतः भारतीय संस्कृति पुरूषार्थ एवं वर्ण– आश्रम व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति के समग्र जीवन की अभिव्यक्ति है।